प्लेसीबो:

यूँ बेअसर ही सही, फिर भी इस दवा का कुछ तो है असर

वसन्त नटराजन

यहाँ हम प्लेसीबो (कूट-दवा) के असर तथा किसी दवा के असर में प्लेसीबो के प्रभाव की भूमिका पर चर्चा करेंगे। हम इस बात पर भी आएँगे कि क्योंकर बाज़ार में आने वाली किसी भी नई दवा को प्लेसीबो-नियंत्रित परीक्षण से गुज़रना ही पड़ता है।

मेरे बचपन का एक किस्सा है। कई बार जब मेरा बड़ा भाई बीमार पड़ जाता, तब हम लोग उसे डॉक्टर के पास ले भर जाते और वह डॉक्टर द्वारा लिखी गई दवा खाने के पहले ही चमत्कारिक ढंग से पहले से बेहतर हुआ जाता। ऐसे में, हर बार, माँ यही सोचतीं कि मेरा भाई बस बीमारी का बहाना बना रहा है। लेकिन आज का चिकित्सा शास्त्र इस 'चमत्कार' को अब खूब समझने लगा है, और इसे *प्लेसीबो-इफ़ेक्ट* का नाम दिया गया है। दूसरे शब्दों में, मरीज़ को बस यह मान लेना होता है कि उसकी बीमारी

का इलाज किया जा रहा है। इधर मरीज़ ने यह माना और उधर शक्कर की गोली (प्लेसीबो) ने असली दवा की तरह अपना असर दिखाना शुरू कर दिया। और यह बात भी आश्चर्यजनक है, हालाँकि अनपेक्षित नहीं, कि यह असर और भी बढ़ाया जा सकता है, बस छोटी गोलियों की बजाय बड़ी गोलियाँ इस्तेमाल कर, या फिर कोरी सफेद गोलियों की बजाय, रंग-बिरंगी गोलियाँ खिलाकर। अपना मन शरीर को कई अनजाने तरीकों से नियंत्रित करता है। इस महत्वपूर्ण प्रभाव के मद्देनज़र बाज़ार में आने वाली हर अँग्रेज़ी दवा को एक प्लेसीबो-नियंत्रित, डबल-ब्लाइंड परीक्षण से गुज़रना पड़ता है।

इन परीक्षणों का खुलासा करने से पहले चलिए आधुनिक वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल की एक महत्वपूर्ण विशेषता पर ज़रा गौर कर लिया जाए। हमारा विवेकशील मन हमसे यह कहता है कि इस दुनिया में जो भी प्रभाव हम अपने इर्द-गिर्द देखते हैं, उसका एक निश्चित, जाना जा सकने योग्य, प्राकृतिक कारण होता है। विज्ञान का उद्देश्य ही इस 'कार्य-कारण' सम्बन्ध को स्थापित करना है। इसके लिए, 'अन्य सब बातें समान या अपरिवर्तनीय हों' (केटेरिस पॅरिबस) की शर्त पूरी करना पड़ती है। दूसरे शब्दों में कहें तो, कोई प्रयोग या परीक्षण करने वाले एक वैज्ञानिक को यह सुनिश्चित करना पड़ता है कि अध्ययन में शामिल परिवर्ती (varibles) के अलावा अन्य सारे स्वतंत्र परिवर्ती नियंत्रित हों, ताकि अन्तिम परिणाम पर एक अकेले उस निश्चित या चुने गए स्वतंत्र परिवर्ती के प्रभाव को अलग से देखा जा सके। जहाँ तक निर्जीव संसार के साथ प्रयोगों (मसलन भौतिकशास्त्र व रसायनशास्त्र के प्रयोग) की बात है तो मामला कमोबेश सरल ही रहता है लेकिन बात जब जटिल सजीवों, खासकर मानव की हो तो खीर और भी टेढ़ी हुई जाती है।

एक डॉक्टर अगर किसी नई दवा का इन्सानों पर असर देखना चाहता है, तो वह क्या करे? यह तो साफ है कि वह डॉक्टर, कई एक-समान मरीज़ नहीं बना सकता, जैसे कि भौतिकी में हम एक ही प्रयोग को कई बार दोहराते हैं। एक ही तरह की शिकायत वाले मरीज़ उम्र, लिंग, समग्र स्वास्थ्य, खान-पान, आदतों आदि के हिसाब से एक-दूसरे से अलग होंगे। ऐसे में, इन सारे 'परिवर्तियों' को नियंत्रित रखने का सर्वोत्तम तरीका यही होता है कि सांख्यिकीय दृष्टि से जितना बड़े-से-बड़ा हो सके, सैम्पल लिया जाए और यह

उम्मीद की जाए कि ऐसे में अगर कुछ अनियंत्रित विविधता होगी भी तो बड़ा सैम्पल होने के कारण 'औसत' की वजह से उसका असर खत्म हो जाएगा। इसके अलावा, हम सैम्पल ही ऐसा लेंगे कि उसके सदस्य उपरोक्त परिवर्तियों के सन्दर्भ में एक-दूसरे से यथासम्भव मेल खाएँ।

कंट्रोल व डबल-ब्लाइंड का महत्व

यह समझने के लिए कि औषधि-परीक्षण कैसे किए जाते हैं, चलिए मलेरिया के लिए एक नई दवा के परीक्षण का उदाहरण लेते हैं। इस दवा के परीक्षण के लिए आप मलेरिया से पीड़ित 100 ऐसे पुरुष मरीज़ों का चयन करते हैं जो सब-के-सब एक ही आयु-समूह के हैं, इनमें से कोई भी धूम्रपान नहीं करता, इन सबकी खान-पान और व्यायाम की आदतें एक-सरीखी हैं। इसके बाद आप इन सौ मरीज़ों को यूँ ही अटकलपच्चू तरीके से (रैंडमली) 50-50 के दो समूहों में बाँट देते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्लेसीबो असर एक तगड़ा असर होता है, और इसे तो हर हाल गिनती में लेना ही होगा। ऐसा करने के लिए, एक समूह (कंट्रोल ग्रुप) को दवा-सरीखी दीखती शक्कर-गोली खिलाई जाती है, जबकि दूसरे समूह (प्रयोग-समूह, एक्सपेरिमेंटल ग्रुप) को असली दवा, जिसे परखा जा रहा है, दी जाती है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है कि यह परीक्षण डबल-ब्लाइंड यानी

डबल-ब्लाइंड परीक्षण

डबल-ब्लाइंड दवा-परीक्षण का एक महत्वपूर्ण घटक होता है। जिस तरह एक प्लेसीबो लेने वाले मरीज़ की सेहत में असल दवा लिए बिना ही सुधार के सुस्पष्ट लक्षण नज़र आ सकते हैं, उसी तरह एक डॉक्टर भी असल दवा और प्लेसीबो के असर को देखते समय पूर्वाग्रह का शिकार बन उनके बीच कुछ फर्क देख सकता है, केवल इसलिए कि *वे ऐसा फर्क देखने की अपेक्षा रखते हैं*। सो किसी डॉक्टर को अगर पहले से ही यह पता हो कि मरीज़ को असल दवा दी जा रही है, न कि कोई प्लेसीबो, तो वह अवचेतन स्तर पर ही उसका कुछ प्रभाव ज़रूर देख लेगा, फिर चाहे ऐसा प्रभाव वहाँ हो ही नहीं। इसीलिए तो, किसी भी दवा के परीक्षण को डबल-ब्लाइंड रखना ज़रूरी होता है। मरीज़ों व डॉक्टरों को इस बात की तनिक भी जानकारी नहीं होनी चाहिए कि कौन असल गोली खा रहा है, और कौन नकली गोली। परिणामों की व्याख्या में किसी भी तरह के अवचेतन-पूर्वाग्रह को निरस्त करने का इससे अच्छा उपाय अभी तो कोई नहीं।

सांख्यिकीय महत्व

स्टैटिस्टिकल सिग्निफिकेंस के परीक्षण द्वारा इस सवाल का जवाब पाया जाता है, "इस बात की कितनी सम्भावना है कि कोई अवलोकन से पाया गया परिणाम पूर्णतः संयोग से मिला हो?" एक सैम्पल सेट में त्रुटि की सम्भाविता का एक स्तर (अल्फा, α लेवल) चुनकर, और फिर उपलब्ध आँकड़ों के हिसाब से इस पैरामीटर की गणना द्वारा यह काम किया जाता है। उदाहरण के लिए, अगर आप यह मान कर चलें कि त्रुटियों का बन्टन (डिस्ट्रीब्यूशन) या तो 'नॉर्मल' है या 'गॉसियन' तथा सैम्पल सेट का मानक विचलन सिग्मा (σ) है, तब $n\sigma$ विचलन का स्टैटिस्टिकल सिग्निफिकेंस, एरर फंक्शन के इस्तेमाल के द्वारा α के एक मूल्य में परिवर्तित किया जा सकता है:

$$\alpha = 1 - \text{erf}\,(n/\sqrt{2})$$

3σ विचलन के लिए, α का मूल्य 0.0027 है। इसका मतलब है शुद्धतः सांयोगिक रूप से परिणाम को पाने की सम्भावना 0.27 प्रतिशत है। जैसे-जैसे सैम्पल साइज़ बढ़ता जाता है, σ का मूल्य घटता जाता है। यानी कि सैम्पल साइज़ बढ़ने के साथ-साथ उसका स्टैटिस्टिकल सिग्निफिकेंस भी बढ़ता जाता है।

लेकिन स्टैटिस्टिकली सिग्निफिकेंट परिणाम का मतलब यह नहीं हो जाता कि वह अवलोकन/निरीक्षण *महत्वपूर्ण* है जैसा कि बोलचाल की भाषा में होता है। उदाहरण के लिए, यदि हम 1000 लोगों को एक आइ.क्यू. टेस्ट दें, और उन्हें पुरुषों व महिलाओं में बाँटें, और यह जानने की कोशिश करें कि क्या महिलाओं व पुरुषों के स्कोर में कोई उल्लेखनीय अन्तर है। इस पर, मान लो, हमें यह पता चलता है कि पुरुषों का औसत स्कोर 98 है व महिलाओं का 100. इसके बाद कुछ सांख्यिकीय परीक्षणों के द्वारा हम पाते हैं कि 0.001 के त्रुटि-स्तर पर यह अन्तर उल्लेखनीय है। लेकिन किसी आइ.क्यू. टेस्ट में 98 व 100 के बीच का अन्तर एक बहुत ही छोटा अन्तर है, इतना छोटा कि यह महत्वपूर्ण या स्टैटिस्टिकली सिग्निफिकेंट नहीं रह जाता। 10,000 लोगों का सैम्पल सेट लेने पर निश्चित ही सांख्यिकीय सिग्निफिकेंस बेहतर हो जाएगा, पर किसी भी लिहाज़ से प्राप्त निष्कर्ष और अधिक महत्वपूर्ण तो नहीं बनेगा।

दोहरे रूप से छिपा हुआ होना ज़रूरी है, यानी कि न तो इस परीक्षण में शामिल मरीज़ों को और न ही डॉक्टरों को पता हो कि किसे क्या मिला - दवा किस समूह को या प्लेसीबो किस समूह को।

अध्ययन के अन्त में, यदि कंट्रोल व प्रयोग समूह में सांख्यिकीय हिसाब से उल्लेखनीय अन्तर पाया जाता है तो हम आराम से कह सकते हैं कि यह दवा कुछ असर तो करती है। और यदि दोनों समूहों के बीच कोई अन्तर ही नहीं है, तो फिर तो वह दवा महज़ शक्कर की गोली या यूँ कहें प्लेसीबो से अधिक कुछ नहीं। स्वाभाविक तौर पर, सांख्यिकीय रूप से सिग्निफिकेन्ट अन्तर क्या है, यह गणित में सुस्पष्ट रूप से परिभाषित होता है। और जैसे-जैसे सैम्पल बड़ा होगा अन्तर का सांख्यिकीय महत्व बढ़ता जाएगा (बॉक्स देखें)।

सारांश में, मरीज़ों का एक बड़ा सैम्पल लेकर यह सुनिश्चित करने की कोशिश होती है कि जब औसत अन्तर की तलाश करें तो उनके बीच में जो अपरिहार्य अन्तर हैं वे परस्पर-निष्फल हो जाएँ ताकि *केटेरिस पॅरिबस* की शर्त पूरी हो। एक्सपेरिमेंटल समूह के साथ कंट्रोल समूह लेकर और दोनों समूहों पर पड़ने वाले असर में सांख्यिकीय रूप से सिग्निफिकेन्ट अन्तर तलाश कर प्लेसीबो के असर को दूर किया जाता है। और अन्तिम, लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात, यह अध्ययन दोहरे रूप से छिपा हुआ (डबल-ब्लाइंड) किया जाता है ताकि नतीजों की व्याख्या करते समय किसी भी प्रकार का अवचेतन पूर्वाग्रह उसमें न झलके।

वसन्त नटराजनः भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलुरू के भौतिकी विभाग में प्राध्यापक। इनकी रुचियाँ लेज़र-कूलिंग, परमाणु-टैपिंग और आयन-टैपिंग आदि विषयों में है।
अँग्रेज़ी से अनुवादः मनोहर नोतानीः शिक्षा से स्नातकोत्तर इंजीनियर। पिछले 20 वर्षों से अनुवाद व सम्पादन उद्यम से स्वतंत्र रूप से जुड़े हैं। भोपाल में रहते हैं।
मूल लेख 'रेज़ोनेंस' पत्रिका के अंक, नवम्बर 2010, खण्ड 15 में प्रकाशित हुआ था।